पवहारी बाबा

स्वामी विवेकानन्द

(द्वितीय संस्करण)

श्रीरामकृष्ण आश्रम,
नागपुर, मध्यप्रदेश

अगस्त १९५०]　　　　मूल्य ॥)

प्रकाशक—

स्वामी भास्करेश्वरानन्द,

अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण आश्रम,

धन्तोली, नागपुर–१, म. प्र.

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला

पुष्प–चौबीसवाँ

मुद्रक—

रामगोपाल गिरधारीलाल श्रीवास,

बजरंग मुद्रणालय,

कर्नलबाग, स. नं. २, नागपुर

वक्तव्य

प्रस्तुत पुस्तक का यह द्वितीय संस्करण पाठकों के सम्मुख रखते हमें बड़ा हर्ष होता है। यह पुस्तक मौलिक रूप में स्वामी विवेकानन्दजी द्वारा अंग्रेजी में लिखी गई थी—उसी का हिन्दी अनुवाद आज आपके हाथ में है। पवहारी बाबा के प्रति स्वामी जी की बड़ी श्रद्धा और निष्ठा थी। इन महात्मा का जीवन कितना उच्च तथा उनकी आध्यात्मिक साधनाएँ कितनी महान् थीं इसका संक्षिप्त विवरण हमें इस पुस्तक से प्राप्त होगा। हम कह सकते हैं कि इनके जीवन-काल की समस्त घटनाएँ हमारे लिए स्फूर्तिदायी एवं पथप्रदर्शक हैं।

हमें विश्वास है कि इस पुस्तक से हिन्दी जनता को धार्मिक क्षेत्र में स्फूर्ति एवं प्रोत्साहन प्राप्त होगा।

नागपुर,

दि० १-८-१९५०

प्रकाशक
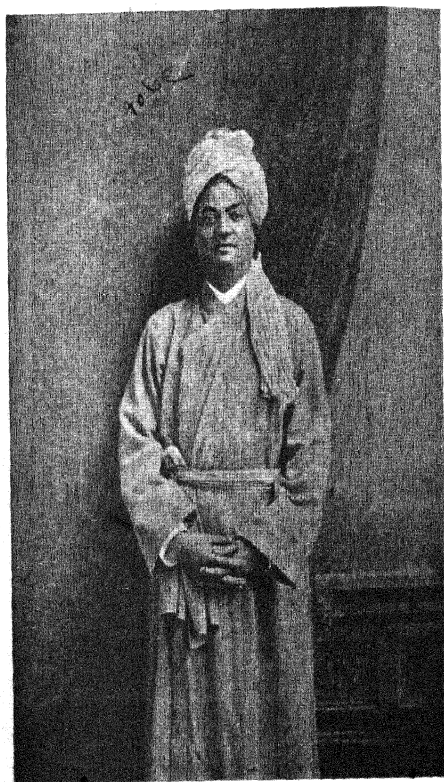
स्वामी विवेकानन्द

पवहारी बाबा

(ग़ाज़ीपुर के विख्यात साधु)

प्रथम अध्याय

अवतरणिका

भगवान् बुद्ध ने धर्म के प्राय: सभी अन्यान्य भावों को कुछ समय के लिए दूर रख कर केवल इसी भाव को सम्पूर्ण प्राधान्य दिया था कि दु:खों से पीड़ित संसार की सहायता करना ही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ कर्म है। परन्तु फिर भी स्वार्थपूर्ण "मैं" पन के खोखलेपन की सत्यता को अनुभव करने के निमित्त आत्मानुसन्धान में उन्हें भी अनेक वर्ष बिताने पड़े थे। भगवान् बुद्ध से अधिक नि:स्वार्थ तथा अथक कर्मी हमारी उच्च से उच्च कल्पना के भी परे है। परन्तु फिर भी उनकी अपेक्षा और किसे समस्त विषयों का रहस्य जानने के लिए इतना प्रबल संग्राम करना पड़ा? यह चिरन्तन सत्य है कि जो कार्य जितना महान् होता है उसके पीछे उतनी ही अपरोक्षानुभूति-शक्ति विद्यमान रहती है। यदि एक कार्य-

प्रणाली पहले से ही निश्चित की हुई है तो उसे ब्योरे सहित कार्य-रूप में परिणत करने के लिए फिर चाहे भले ही अधिक एकाग्रचिन्ता-शक्ति की आवश्यकता न पड़े, परन्तु यह स्मरण रहना चाहिए कि प्रबल शक्ति-तरंगें केवल प्रबल एकाग्रता का ही तो परिणाम हैं। किसी सामान्य चेष्टा के लिए सम्भव है कोई मतवाद मात्र ही पर्याप्त हो सके, परन्तु जिस तनिक से हिलाव से एक छोटी सी लहर की उत्पत्ति होती है वह हिलाव उस वेग से अवश्य ही नितान्त भिन्न है जो एक प्रचण्ड तरंग को उत्पन्न कर देता है। परन्तु फिर भी यह छोटी सी लहर उस प्रचण्ड तरंग को उत्पन्न करने वाली शक्ति के एक क्षुद्र अंश का विकास मात्र है।

इसके पूर्व कि हमारा मन निम्नतर कर्मभूमि में प्रबल कर्म-तरंग उत्पन्न कर सके, आवश्यकता इस बात की होती है कि हम सच्चे तथा ठीक ठीक तथ्य के निकट पहुँच जायँ, वे तथ्य भले ही विकट तथा भयप्रद क्यों न प्रतीत हों; हम सत्य——शुद्ध सत्य का लाभ कर लें, उससे हमारे हृदय का प्रत्येक तंतु चाहे छिन्न भिन्न ही क्यों न हो जाय; हम निःस्वार्थ तथा निष्कपट उद्देश्य को प्राप्त कर लें—उसके उपार्जन में चाहे हमें अपने प्रत्येक अंग-प्रत्यंग का बलिदान ही क्यों न कर देना पड़े। सूक्ष्म वस्तु काल-स्रोत में प्रवाहित होते होते व्यक्त भाव को धारण करने के लिए अपने चारों ओर स्थूल वस्तुओं को एकत्रित करती रहती है; अदृश्य दृश्य का स्वरूप धारण कर लेता है; जो बात सम्भव सी प्रतीत होती थी वह वास्तविक रूप धारण कर

लेती है; कारण कार्य में तथा विचार शारीरिक कार्यों में परिणत हो जाते हैं।

आज प्रतिकूल परिस्थितियों के हेतु से, कोई एक कारण भले ही रुद्ध रहे, परन्तु आगे पीछे वह कार्य रूप में अवश्य ही परिणत होगा तथा इसी प्रकार एक विचार भी आज वह चाहे जितना क्षीण क्यों न हो, एक न एक दिन स्थूल क्रिया के रूप में अवश्य ही प्रकट हो, गौरवान्वित होगा। साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इन्द्रिय-सुख उत्पादन करने की क्षमता की दृष्टि से ही किसी वस्तु का मूल्य आँकना उचित नहीं है।

जो प्राणी जितनी अधिक निम्नावस्था में रहता है, उतना ही अधिक वह इन्द्रियों में सुख अनुभव करता है तथा उतने ही अधिक परिमाण में वह इन्द्रियों के राज्य में निवास करता है। सभ्यता—यथार्थ सभ्यता का अर्थ यही होना चाहिए कि वह पशुभावापन्न मानवजाति को अपनी शक्ति द्वारा इन्द्रियातीत जगत् में ले जा सके, उसे बाह्य सुख नहीं, वरन् उच्च और उच्चतर क्षेत्रों के दृश्य दिखला कर उनका अनुभव करा सके।

मनुष्य को इस बात का स्वत:सिद्ध ही ज्ञान रहता है, चाहे सभी अवस्थाओं में उसे इस बात का बोध स्पष्ट रूप से भले ही न रहता हो। ज्ञानमय जीवन के सम्बन्ध में उसके भिन्न भिन्न विचार हो सकते हैं, पर फिर भी उसके हृदय का यह स्वाभाविक भाव लुप्त

नहीं होता, वह तो सदैव प्रकट होने की ही चेष्टा करता रहता है—इसीलिए तो मनुष्य किसी बाजीगर, वैद्य, पुरोहित अथवा वैज्ञानिक के प्रति सम्मान दर्शाए बिना नहीं रह सकता। हम कह सकते हैं कि जिस परिमाण में मनुष्य इन्द्रिय-राज्य को छोड़ कर उच्च भाव-भूमि पर अवस्थान करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है, जिस परिमाण में वह विशुद्ध चिन्तन रूपी वायु अपने भीतर खींचने में समर्थ हो जाता है तथा जितने अधिक समय तक वह उस उच्च अवस्था में रह सकता है, उसी परिमाण में वह अपनी उन्नति कर चुकता है।

संसार में यह स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि सुसंस्कृत उन्नत व्यक्ति अपने जीवन-निर्वाह के लिए नितान्त आवश्यक चीज़ों के अतिरिक्त, तथाकथित ऐशआराम में अपना समय गँवाना बिल्कुल पसन्द नहीं करते और जैसे जैसे वे उन्नत होते जाते हैं, वैसे वैसे आवश्यक कर्म करने में भी उनका उत्साह कम होता जाता दिखाई देता है।

इतना ही नहीं, वरन् मनुष्य की विलासविषयक धारणा भी उसके भावों तथा आदर्शों के अनुसार ही परिवर्तित होती जाती है। और उसका प्रयत्न यही रहता है कि उसके विलास के साधन भी उसके उसी चिन्ता-जगत् का यथाशक्ति प्रतिबिम्ब हों जिसमें वह विचरता है—और यही है कला।

"जिस प्रकार एक ही अग्नि विश्व में प्रवेश कर विभिन्न रूपों

में प्रकट होती है, और फिर भी जितनी वह व्यक्त हुई है, उससे भी कई गुनी अधिक है"*——हाँ, यह नितान्त सत्य है कि वह अनन्त गुनी अधिक है। उस अनन्त चैतन्य का केवल एक अंश हमें सुख देने के लिए इस जड़ जगत् में अवतीर्ण हो सकता है। पर उसके शेष भाग को यहाँ लाकर उसके साथ स्थूल के समान हम मनमाना व्यवहार नहीं कर सकते। वह परम सूक्ष्म वस्तु हमारे दृष्टि-क्षेत्र से सर्वदा ही बाहर निकल जाती है तथा उसे हमारे स्तर पर खींच लाने की हमारी जो चेष्टा होती है उसे देखकर मुसकराती है। इस विषय में हम यही कहेंगे कि 'मुहम्मद को ही पर्वत के निकट जाना बाध्य होगा'——उसमें 'नहीं' कहने की गुंजाइश नहीं। मनुष्य की यदि यह आकांक्षा हो कि वह उस अतीत प्रदेश के सौन्दर्यों का आनन्द ले, वहाँ के विमल आलोक में विचरण करे तथा उसके प्राण उस विश्व-कारण प्राणदेवता के साथ अभेद ताल से नृत्य करें तो उसे स्वयं ही उस राज्य में पदार्पण करना होगा।

ज्ञान ही विस्मय-राज्य का द्वार खोल देता है, ज्ञान ही पशु को देवता बना देता है। साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जो ज्ञान हमें उस वस्तु के निकट पहुँचा देता है, जिसे जान लेने से सब कुछ जाना जाता है†— जो समस्त अन्यान्य विद्याओं का हृदय स्वरूप है, जिसके स्पन्दन से समस्त विज्ञान के मृत शरीर में

* कठोपनिषद्, २–२–९

† कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।–मुण्डकोपनिषद्, १–१–३

प्राणों का संचार हो जाता है, वही आत्मज्ञान, वही धर्म-विज्ञान निःसंदेह सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि केवल वही मनुष्य को सम्पूर्ण ध्यानमय जीवन व्यतीत करने में समर्थ बना देता है। धन्य है वह देश, जिसने उसे 'पराविद्या' नाम से सम्बोधित किया है।

यद्यपि कर्म-जीवन में प्राय: सम्पूर्ण रूप से तत्व प्रकाशित होता दिखाई नहीं देता, परन्तु फिर भी आदर्श कभी नष्ट नहीं होता। एक ओर हमारा यह कर्तव्य है कि हमें अपने आदर्श का कभी विस्मरण न होना चाहिए, चाहे हम उसकी ओर द्रुत गति से अग्रसर हो रहे हों अथवा धीरे धीरे धीमी गति से रेंगते हुए जा रहे हों, और दूसरी ओर हमें यह भी न भूलना चाहिए कि यद्यपि हम अपनी आँखों पर हाथ रख कर उसका प्रकाश ढाँकने का पूर यत्न करते हैं तथापि वह सर्वदा हमारे सम्मुख अस्पष्ट रूप से विद्यमान रहता ही है।

आदर्श ही कर्म-जीवन का प्राण है। हम चाहे दार्शनिक विचारों में मग्न रहा करें अथवा दैनिक जीवन के कठोर कर्तव्यों का पालन किया करें, हमारे सम्पूर्ण जीवन में हमारा आदर्श ही ओत-प्रोत रूप से विद्यमान रहता है। इसी आदर्श की किरणें सीधी अथवा वक्र गति से प्रतिबिम्बित तथा परावर्तित हो मानो हमारे जीवन-गृह में छिद्र छिद्र में से होकर प्रवेश करती रहती हैं और हमें जान अथवा अनजान में अपना प्रत्येक कार्य उसी के प्रकाश में करना पड़ता है—उसी के द्वारा प्रत्येक वस्तु सुरूप अथवा कुरूप अवस्था में परिवर्तित हुई देखनी पड़ती है। हम अभी जैसे हैं अथवा भविष्य में

जैसे होने वाले हैं वह सब हमारे आदर्श द्वारा ही नियमित हुआ है तथा होगा। इसी आदर्श की शक्ति हममें निरन्तर व्याप्त है तथा हमारे प्रत्येक सुख में, दु:ख में, हमारे महान् महान् कार्यों में अथवा हमारी छोटी छोटी करतूतों में हमारे गुणों में अथवा हमारे अवगुणों में हमें उसी शक्ति का सदैव परिचय मिलता रहता है।

यदि कर्म-जीवन पर हमारे आदर्श का इतना असर होता है, तो उसी प्रकार कर्म-जीवन का भी हमारे आदर्श को गढ़ने में कुछ कम हाथ नहीं है। असल में आदर्श का सत्यत्व तो कर्म-जीवन में ही प्रमाणित होता है। आदर्श का फल कर्म के प्रत्यक्ष आचरण द्वारा ही प्राप्त होता है। आदर्श का अस्तित्व ही इस बात का प्रमाण है कि कहीं न कहीं अथवा किसी न किसी रूप में वह आदर्श कर्म-जीवन में परिणत हो रहा है। आदर्श कितना ही विशाल क्यों न हो, परन्तु वास्तव में वह कर्म-जीवन के छोटे छोटे अंशों का विस्तृत भाव ही है। हम कह सकते हैं कि क्षुद्र क्षुद्र कर्म-खण्डों की समष्टि अथवा उनमें अनुस्यूत साधारण भाव ही आदर्श है।

कर्म-जीवन में ही आदर्श की शक्ति प्रकाशित होती है और केवल कर्म-जीवन द्वारा ही वह हम पर कार्य कर सकता है। कर्म-जीवन द्वारा ही हमें उसकी प्रतीति होती है तथा उसी के द्वारा वह आत्मसात् किये जाने योग्य रूप धारण करता है। कर्म-जीवन को ही सीढ़ी बनाकर हम आदर्श की ओर उठते हैं। उसी पर हमारी आशा प्रतिष्ठित रहती है, वही हमें कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करता है।

ऐसे करोड़ो लोगों की अपेक्षा जो केवल शब्दों द्वारा आदर्श का एक अत्यन्त सुन्दर रंगीन चित्र खींच सकते हैं, अथवा जो केवल सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वों की उद्भावना कर सकते हैं वह व्यक्ति कहीं अधिक शक्तिमान है, जिसने अपने जीवन में आदर्श को प्रति-फलित कर लिया है।

दर्शन-शास्त्र मानव समाज के लिए उस समय तक निरर्थक से ही हैं अथवा अधिक से अधिक एक प्रकार से दिमागी कसरत के ही साधन हैं, जब तक कि वे धर्म के साथ संयुक्त नहीं होते, अथवा जब तक कि कुछ ऐसे व्यक्ति उन्हें प्राप्त नहीं हो जाते जो उन्हें न्यूना-धिक सफलता के साथ कर्म-जीवन में परिणत कर सकते हैं। जिन मतवादों से किसी प्रत्यक्ष वस्तु के लाभ की कुछ भी आशा नहीं रहती उन्हें भी यदि कुछ लोग, चाहे अल्प परिमाण में ही क्यों न सही, कर्म-जीवन में परिणत कर देते हैं, तो उनके भी स्थायित्व के लिए एक विशाल अनुयायी-संघ की आवश्यकता होती है। परन्तु उसके अभाव में देखा यह गया है कि, अनेक प्रत्यक्षवादात्मक तथा सुन्दर रूप से प्रतिपादित मत भी लुप्त हो गए हैं।

हममें से अधिकांश लोग चिन्तनशीलता के साथ कर्म का सामञ्जस्य नहीं रख सकते। केवल थोड़े ही महानुभाव ऐसा कर सकते हैं। देखने में बहुधा यही आता है कि हममें से अधिकांश व्यक्ति जब गम्भीर मनन करने लग जाते हैं तो वे अपनी कार्यक्षमता खो बैठते हैं और इसी प्रकार जो लोग अधिक कार्य में व्यस्त हो

जाते हैं वे अपनी गम्भीर चिन्तनशक्ति गँवा बैठते हैं। यही कारण है कि अनेक महान् चिन्तनशील व्यक्तियों को, अपने जीवन में उन्होंने जिन सब उच्च आदर्शों की उपलब्धि की है, उन्हें कार्यरूप में परिणत करने का भार काल को ही सौंपकर, चल बसना पड़ता है। उनके विचार कार्यरूप में परिणत होने अथवा प्रचारित होने के लिए यह प्रतीक्षा ही बनी रहती है कि उन्हें कोई अधिक क्रियाशील व्यक्ति मिले। इन पंक्तियों को लिखते-लिखते मानो हम अपने मनश्चक्षु के सम्मुख उन कवचधारी पार्थसारथि भगवान् श्रीकृष्ण को देख रहे हैं, जो दोनों विरोधी सैन्यों के बीच रथ पर खड़े होकर अपने बाएँ हाथ से दृप्त अश्वों को रोक रहे हैं, और ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से उस प्रचण्ड सेना-सागर को निहार रहे हैं तथा अपने स्वाभाविक ज्ञान द्वारा दोनों दलों की रण-सज्जा को प्रत्येक अंश में आँक रहे हैं। साथ ही मानो हम उनके श्रीमुख से कर्म का वह अत्यद्भुत रहस्य सुन रहे हैं, जिसने भयग्रस्त अर्जुन को रोमाञ्चित कर दिया था——

"कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥"

——"जो कर्म में अकर्म अर्थात् विश्राम या शान्ति, एवं अकर्म अर्थात् शान्ति में कर्म देखता है, वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वही योगी है, और उसीने सब कर्म किए हैं।"

यही पूर्ण आदर्श है। परन्तु बहुत ही कम लोग इस आदर्श को

प्राप्त करते हैं। अतएव परिस्थिति जैसी भी हो हमें उसे ग्रहण करना ही होगा तथा इतने से ही सन्तुष्ट होना होगा कि हम विभिन्न व्यक्तियों में प्रकाशित पूर्णता के भिन्न भिन्न पहलुओं को एकत्र ग्रथित कर लें।

धर्म के क्षेत्र में चार प्रकार के साधक होते हैं—गम्भीर चिन्तन-शील (ज्ञानयोगी); दूसरों की सहायता के लिए प्रबल कर्मशील (कर्मयोगी); साहस के साथ आत्मानुभूति प्राप्त कर लेने में अग्रसर (राजयोगी) तथा शान्त एवं विनम्र व्यक्ति (भक्तियोगी)।

द्वितीय अध्याय

अमृत की खोज में

प्रस्तुत लेख में हम जिनका चरित्र वर्णन करेंगे, वे एक असाधारण विनयसम्पन्न तथा श्रेष्ठ आत्मज्ञानी व्यक्ति थे।

पवहारी बाबा (बाद में वे इसी नाम से परिचित हुए) का जन्म बनारस जिले में गुजी नामक स्थान के निकट एक गाँव में ब्राह्मण वंश में हुआ। बाल्यावस्था में ही वे गाज़ीपुर अपने चाचा के पास रहने तथा शिक्षा ग्रहण करने के लिए आ गये थे।

वर्तमान काल में हिन्दू साधु प्रधानतः निम्नलिखित चार सम्प्रदायों में विभक्त हैं: संन्यासी, योगी, वैरागी तथा पन्थी। संन्यासीगण श्री शंकराचार्य के मतावलम्बी अद्वैतवादी हैं। योगीगण यद्यपि अद्वैतवादी होते हैं, तथापि योग की भिन्न भिन्न प्रणालियों की साधना करने के कारण उनकी एक अलग श्रेणी मानी गई है। वैरागी, रामानुज तथा अन्यान्य द्वैतवादी आचार्यों के अनुयायी होते हैं। पन्थियों में द्वैती तथा अद्वैती दोनों का समावेश होता है; उनके

सम्प्रदाय की स्थापना मुसलमानों के शासनकाल में हुई थी। पवहारी बाबा के चाचा रामानुज अथवा श्री सम्प्रदाय के अनुयायी थे। वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे; अर्थात् उन्होंने यह व्रत किया था कि वे आजन्म ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करेंगे। गाज़ीपुर के उत्तर ओर दो मील की दूरी पर गंगा के किनारे उनकी छोटी सी जमीन थी और वहीं वे बस गये थे। उनके कई भांजे थे। उनमें से उन्होंने एक (पवहारी बाबा) को अपने घर में रख लिया तथा उसको अपने पश्चात् अपनी सम्पत्ति तथा पद का उत्तराधिकारी निश्चित कर दिया।

पवहारी बाबा की इस समय की जीवन-घटनाओं के सम्बन्ध में हमें कोई विशेष जानकारी प्राप्त नहीं है और न हमें इसी बात का कुछ पता है कि जिन विशेष गुणों के कारण वे भविष्य में ऐसे विख्यात हुए थे उन गुणों का उस समय उनमें कोई चिह्न भी विद्यमान था। लोगों को इतना ही स्मरण है कि उन्होंने व्याकरण, न्याय तथा अपने सम्प्रदाय के धर्मग्रंथों का बड़े परिश्रम के साथ विशेष रूप से अध्ययन किया था। साथ ही वे फुर्तीले एवं आमोदप्रिय भी थे। कभी कभी उनकी आमोद-प्रमोद की मात्रा इतनी बढ़ जाती थी कि उनके सहपाठी छात्रों को अच्छा छकना पड़ता था।

इस प्रकार प्राचीन ढंग के भारतीय विद्यार्थियों के दैनिक कर्तव्य के बीच इस भावी महात्मा का बाल्यजीवन व्यतीत होने लगा। उनके उस समय के सरल आनन्दमय तथा

क्रीडाशील छात्रजीवन में विशेषत: अपने अध्ययन के प्रति असाधारण अनुराग तथा अनेकानेक भाषाएँ सीखने में अपूर्व पटुता के अतिरिक्त और कोई ऐसी विशेष बात नहीं दिखाई देती थी जिससे उनके भविष्य जीवन की उत्कट गम्भीरता का अनुमान किया जा सकता। उस गम्भीरता का अन्तिम परिणाम एक अत्यन्त अद्भुत तथा रोमाञ्चकारी आत्माहुति में हुआ जो उस समय सब लोगों को प्राचीन कथाओं के समान केवल एक किंवदन्ती सी प्रतीत हुई।

इसी समय एक ऐसी घटना हुई जिससे इस अध्ययनशील युवक को सम्भवत: पहले ही बार जीवन के गम्भीर रहस्य की अनुभूति हुई। आज तक जो दृष्टि किताबों में ही गड़ी थी उसे ऊपर उठाकर वह युवक अपने मनोजगत् का बारीकी के साथ निरीक्षण करने लगा। फलत: उसका हृदय धर्म का वह अंश जानने के लिए व्याकुल हो उठा जो केवल किताबी ही न होकर वास्तव में सत्य है। इसी समय उस बालक के चाचा की मृत्यु हो गई—इस युवक-हृदय का समस्त प्रेम जिन पर केन्द्रित हुआ था वे ही अब चल बसे। फलत: उस उत्साही युवक का हृदय दु:ख के दारुण आघात से अन्तस्तल तक काँप उठा। उस क्षति के शून्य स्थान को पूर्ण करने के लिए अब वह युवक एक ऐसी चिरन्तन वस्तु के अन्वेषण के लिए कटिबद्ध हो गया जिसमें कभी परिवर्तन होता ही नहीं।

भारतवर्ष में सभी विषयों के लिए हमें गुरु की आवश्यकता होती है। हम हिन्दुओं का ऐसा विश्वास है कि ग्रन्थ तत्वविशेषों की

रूपरेखा मात्र हैं। समस्त कलाओं तथा विद्याओं का, और विशेषकर धर्म के जीवन्त रहस्य का संचार श्री गुरु द्वारा ही होना चाहिए।

हम देखते हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल से भारतवर्ष में धर्मपिपासु अनुरागी साधकों ने अन्तर्जगत् के रहस्यों की खोज करने के लिए सदैव एकान्त का आश्रय लिया है और आज भी ऐसा एक भी अरण्य, पर्वत अथवा पवित्र स्थान नहीं है जिसके सम्बन्ध में यह किंवदन्ती न प्रचलित हो कि किसी न किसी महात्मा के निवास से वह स्थान पवित्र हुआ है।

फिर यह कहावत भी प्रसिद्ध है :

'रमता साधु, बहता पानी।
यह कभी ना मैल लखानी॥'

अर्थात् जिस प्रकार बहता पानी शुद्ध और निर्मल होता है, उसी प्रकार भ्रमण करने वाला साधु भी पवित्र तथा निर्मल होता है।

भारतवर्ष में जो लोग ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर धार्मिक जीवन बिताते हैं, वे साधारणतया अपना अधिकांश जीवन देश के विभिन्न प्रदेशों में भ्रमण करने तथा भिन्न भिन्न तीर्थों एवं पुण्य स्थानों के दर्शन करने में ही व्यतीत करते हैं। जिस चीज़ का सर्वदा व्यवहार होता रहता है, उसमें जंग कभी नहीं लगता; इसी प्रकार मानो भ्रमण करते रहने से उनमें मलिनता कभी प्रवेश नहीं कर पाती। इससे एक लाभ और होता है—उन महात्माओं द्वारा धर्म मानो प्रत्येक

व्यक्ति के दरवाज़े पर पहुँच जाता है। जिन्होंने संसार का त्याग कर दिया है, उनके लिए यह आवश्यक कर्तव्य ही माना गया है कि वे भारतवर्ष की चारों दिशाओं में स्थित चारों मुख्य धाम (उत्तर में बद्रीकेदार, पूर्व में पुरी, दक्षिण में सेतुबन्ध रामेश्वर और पश्चिम में द्वारका) का दर्शन करें।

सम्भव है, उपरोक्त कारणों ने ही हमारे इन युवक ब्रह्मचारी को भारत-भ्रमण के लिए उद्यत किया हो, परन्तु यह हम निश्चय रूप से कह सकते हैं कि उनके भ्रमण का मुख्य कारण उनकी ज्ञानतृष्णा ही थी। हमें उनके भ्रमण के सम्बन्ध में बहुत थोड़ी जानकारी है; तथापि जिन द्राविड़ भाषाओं में उनके सम्प्रदाय के अधिकांश ग्रन्थ लिखे हुए हैं उन भाषाओं का उनका ज्ञान देखकर, तथा श्रीचैतन्य सम्प्रदाय के वैष्णवों की प्राचीन बंगला भाषा से भी उनका पूर्ण परिचय देखकर हम अनुमान कर सकते हैं कि दाक्षिणात्य तथा बंगाल देश में वे काफी समय तक रुके होंगे।

परन्तु उनके यौवन काल के मित्रगण उनके एक विशिष्ट स्थान के प्रवास पर विशेष ज़ोर देते हैं। वे कहते हैं कि काठियावाड़ में गिरनार पर्वत की चोटी पर ही वे सर्वप्रथम योग-साधन के रहस्यों में दीक्षित हुए थे।

यही पर्वत बौद्धों के लिए अत्यन्त पवित्र था। इस पर्वत के नीचे वह विशाल शिला अभी भी विद्यमान है, जिस पर समस्त सम्राटों

में अत्यन्त धर्मशील महाराज अशोक का सर्वप्रथम आविष्कृत अनुशासन खुदा हुआ है। उसके भी नीचे, सैकड़ों सदियों की विस्मृति के अन्धकार में लीन, अरण्यों से ढके हुए बड़े बड़े स्तूपसमूह थे जिनके सम्बन्ध में लोगों की यह धारणा थी कि वे गिरनार पर्वत-श्रेणी के ही छोटे-छोटे खण्ड हैं। अभी भी वह सम्प्रदाय—जिसका बौद्धधर्म आज एक पुन:संशोधित संस्करण समझा जाता है—इस पर्वत को कम पवित्र नहीं मानता। और आश्चर्य की बात यह है कि उसके विश्वविजयी उत्तराधिकारी के आधुनिक हिन्दू धर्म में लीन होने के पूर्व तक उसने स्थापत्य-क्षेत्र में विजयलाभ करने का साहस नहीं किया।

तृतीय अध्याय

पूर्णाहुति

महायोगी अवधूत गुरु दत्तात्रेय का पवित्र निवासस्थान होने के कारण गिरनार पर्वत हिन्दुओं में प्रसिद्ध है; और कहा जाता है कि इस पर्वत की चोटी पर किसी किसी भाग्यशाली व्यक्ति को अभी भी श्रेष्ठ तथा सिद्ध योगियों का पुण्य दर्शन होता है।

इसके बाद हम देखते हैं कि इस युवक ब्रह्मचारी ने एक योग-साधक संन्यासी का शिष्यत्व ग्रहण किया था और यह उनके जीवन में एक दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन था। यह संन्यासी कहीं काशी के निकट गंगाजी के तट पर रहते थे। उनका निवास-स्थान एक सुरंग में था जो गंगाजी की उच्च तट भूमि में खुदी हुई थी। हमारे चरित्रनायक भी अपने भविष्य जीवन में गाज़ीपुर के निकट गंगा के किनारे जमीन के नीचे बनाई हुई एक गहरी गुफा में वास करते थे। हम अनुमान कर सकते हैं कि उन्होंने यह बात अपने योगी श्री गुरु से ही सीखी होगी।

यह प्रसिद्ध है कि योगी सदैव ऐसी ही गुफाओं अथवा स्थानों में रहने का आदेश देते हैं जहाँ योगाभ्यास की सुविधा के लिए जलवायु में कोई विशेष परिवर्तन न हो और जहाँ पर बाहरी कोलाहल मन को विचलित न कर सके।

हमें यह भी ज्ञात हुआ है कि वे लगभग इसी समय बनारस के एक संन्यासी के पास अद्वैत-दर्शन का अध्ययन कर रहे थे।

अनेक वर्षों के भ्रमण, अध्ययन तथा साधना के उपरान्त यह युवक ब्रह्मचारी उस स्थान पर लौट आए जहाँ उनका बाल्यकाल व्यतीत हुआ था। यदि उनके चाचाजी उस समय तक जीवित रहते, तो सम्भवत: उस युवक के मुखमण्डल पर वे वही ज्योति देखते, जो प्राचीन काल के एक महान् ऋषि ने अपने शिष्य के मुख पर देखी थी और कहा था, "ब्रह्मविदिव सोम्य भासि*—हे सोम्य, देख रहा हूँ—आज तुम्हारे मुख पर ब्रह्मज्योति का तेज झलक रहा है।" परन्तु घर लौटने के बाद जिन्होंने उनका स्वागत किया था वे थे केवल उनके बाल्यजीवन के मित्रगण। उनमें से अधिकांश बेचारे संकुचित विचारों तथा ऐहिक कर्मों से भरे हुए संसार में ही प्रवेश कर गए थे—वे घर-गृहस्थी के बन्धनों से जकड़ गये थे।

परन्तु फिर भी उन लोगों को अपनी पाठशाला के इस पुराने मित्र तथा खिलाड़ी के (जिसके भाव तथा विचार वे समझ सकते थे) चरित्र

---

* छान्दोग्य उपनिषद्।

एवं व्यवहार में एक परिवर्तन—एक रहस्यमय परिवर्तन दिखाई दिया। इस परिवर्तन को देख उनके हृदय में केवल कुछ भय-विस्मय का ही उदय हुआ,—यह नहीं कि अपने मित्र के सदृश बनने की इच्छा अथवा उसके समान सत्य की खोज करने की आकांक्षा उनमें जागृत हुई हो। उन्होंने यह अवश्य देखा कि उनका मित्र एक अद्भुत व्यक्ति है जो इस कष्टमय तथा भोगलोलुप संसार से अतीत हो गया है;—और बस इतनी ही भावना उनके लिए पर्याप्त थी। सहज ही उनके प्रति श्रद्धासम्पन्न हो, उन लोगों ने फिर और अधिक जिज्ञासा प्रकट नहीं की। अस्तु—

इसी समय इस महात्मा के वैशिष्ट्यपूर्ण गुण अधिकाधिक प्रकट होने लगे। काशी के निकट रहनेवाले अपने श्री गुरु के सदृश उन्होंने भी जमीन में एक गुफा खुदवाई और उसमें प्रवेश कर वे वहाँ अनेकों घण्टे बिताने लगे। इसके पश्चात् अपने आहार के सम्बन्ध में भी वे कठोर नियम का पालन करने लगे। दिन भर वे अपने छोटे आश्रम में भिन्न भिन्न कार्यों में व्यस्त रहते थे। अपने परम प्रेमास्पद प्रभु श्रीरामचन्द्रजी की पूजा करके वे उत्तम प्रकार के भोजन तैयार करते थे। कहते हैं कि इस पाक-विद्या में वे अत्यन्त निपुण थे। इन व्यञ्जनों का भगवान् को भोग लगाकर वे फिर उन्हें अपने मित्रों तथा दरिद्रनारायणों में प्रसाद रूप में बाँट देते और रात होते तक उनकी सेवा में लगे रहते थे। जब वे सब सो जाते तब ये चुपके से गंगाजी में कूद कर तैरते हुए दूसरे किनारे पर चले जाते

थे। वहाँ सारी रात साधन-भजन में बिताकर प्रातःकाल के पूर्व ही वे वापस लौट आते और अपने मित्रों को जगाकर फिर अपने उसी नित्यकर्म में लग जाते थे जिसे हम भारतवर्ष में 'दूसरों की सेवा या पूजा' कहते हैं।

ऐसा करते करते उनका स्वयं का आहार दिनोंदिन कम होने लगा। हमने सुना है कि अन्त में वे दिन भर में केवल एक मुट्ठी नीम के कड़ुए पत्ते अथवा कुछ मिर्चे ही खाकर रह जाया करते थे। इसके बाद उन्होंने रात को गंगाजी के उस पार जंगल में जाना छोड़ दिया और वे अपना अधिकाधिक समय उस गुफा में ही बिताने लगे। हमने सुना है कि उस गुफा में वे कई दिनों तथा महीनों तक ध्यान-मग्न रहा करते थे और फिर बाहर निकलते थे। यह कोई भी नहीं जानता था कि वे इतने समय तक वहाँ क्या खाकर रहते हैं; इसीलिए लोग उन्हें 'पव-आहारी' (पवहारी) अर्थात् वायु भक्षण करने वाले बाबा कहने लगे।

फिर उन्होंने अपने जीवन भर यह स्थान नहीं छोड़ा। एक समय वे अपनी गुफा में इतने अधिक समय तक रहे कि लोगों ने यह निश्चय कर लिया कि वे अब मर गए! किन्तु बहुत समय के बाद वे फिर बाहर निकले और सैकड़ों साधुओं का भण्डारा किया।

जब वे ध्यान-धारणा में मग्न नहीं रहते थे, तब अपनी गुफा के मुँह के ऊपर स्थित एक कमरे में बैठकर उस समय जो लोग भेंट करने

आते थे, उनसे बातचीत करते थे। अब उनकी कीर्ति चारों दिशाओं में फैलने लगी। अपने उदात्त आचरण तथा धर्मपरायणता के कारण गाज़ीपुर निवासी अफीम-विभाग के लोकप्रिय कर्मचारी राय-बहादुर श्री राय गगनचन्द्र द्वारा ही हमें इन महात्मा से परिचित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

भारतवर्ष के अनेक अन्यान्य महात्माओं के सदृश पवहारी बाबा के जीवन में भी बहिर्जगत् की क्रियाशीलता कुछ विशेष रूप में नहीं दीख पड़ती थी। "शब्द द्वारा नहीं, बल्कि जीवन द्वारा ही शिक्षा देनी चाहिए, और जो व्यक्ति सत्य धारण करने के योग्य हुए हैं, उन्हीं के जीवन में वह प्रतिफलित होता है"—इसी भारतीय आदर्श का उदाहरण-स्वरूप उनका जीवन था। इस श्रेणी के महात्मा, जो कुछ वे जानते हैं, उसका प्रचार करने में पूर्णतया उदासीन रहते हैं; क्योंकि उनकी यह दृढ़ धारणा होती है कि शब्द द्वारा नहीं, वरन् केवल भीतर की साधना द्वारा ही सत्य की प्राप्ति हो सकती है। उनके निकट धर्म केवल सामाजिक कर्तव्यों की प्रेरक शक्ति नहीं है, वरन् दृढ़ सत्यानुसन्धान है—इसी जीवन में प्रत्यक्ष सत्यानुभूति है।

वे महात्मागण इस बात को नहीं स्वीकार करते कि काल के किसी एक क्षण में अन्यान्य क्षणों की अपेक्षा कुछ अधिक शक्ति रहती है। अतएव अनन्त काल का कोई एक क्षण किसी भी दूसरे क्षण के समान होने के कारण वे इस बात पर ज़ोर देते हैं कि मृत्यु की बाट

न जोहकर इसी लोक में तथा इसी क्षण आध्यात्मिक सत्यों का साक्षात्कार कर लेना चाहिए।

वर्तमान लेखक ने एक समय इन महात्मा से पूछा था कि संसार की सहायता करने के लिए वे अपनी गुफा से बाहर क्यों नहीं आते। पहले तो उन्होंने अपनी स्वाभाविक विनयशीलता तथा हास्य-प्रवृत्ति के अनुरूप निम्नलिखित स्पष्ट जवाब दिया:—

"एक दुष्ट मनुष्य कुछ दुष्कर्म करते समय पकड़ा गया और दण्ड के रूप में उसकी नाक काट ली गई। यह सोचकर कि मैं अपना नककटा चेहरा लोगों को कैसे दिखाऊँ, वह अत्यन्त लज्जित हो गया और स्वयं के प्रति विरक्त होकर एक जंगल में चला गया। वहाँ उसने एक शेर की खाल बिछाई और जब वह देखता कि कोई आ रहा है, तो तुरन्त गम्भीर ध्यान का ढोंग करके उस पर बैठ जाता था! ऐसा करने से वह लोगों को दूर तो नहीं रख सका, वरन् उलटे झुण्ड के झुण्ड लोग इस अद्भुत महात्मा को देखने तथा उसकी पूजा करने के लिए आने लगे। उसने देखा कि यह अरण्यवास तो फिर उसके लिए सरल रूप से जीवन-निर्वाह का साधन बन गया है। इस प्रकार कई वर्ष बीत गए। अन्त में उस स्थान के लोग इस मौनव्रतधारी ध्यानपरायण साधु से कुछ उपदेश सुनने के लिए लालायित हुए और विशेष कर एक नवयुवक उस 'साधु' से दीक्षा लेने के लिए अत्यन्त व्याकुल हो उठा। अन्त में ऐसा समय आ गया कि अधिक

विलम्ब करने से साधु की प्रतिष्ठा भंग होने की आशंका हो गई। तब तो एक दिन वह अपना मौन छोड़कर उस उत्साही युवक से बोला, 'बेटा, कल अपने साथ एक तेज़ धार वाला अस्तुरा लेते आना।' इस आशा से कि अपने जीवन की आकांक्षा शीघ्र ही पूर्ण हो जाएगी, उस युवक को बड़ा आनन्द हुआ और दूसरे दिन सबेरा होते ही वह एक तेज़ छुरा लेकर साधु के पास जा पहुँचा। फिर यह नक-कटा साधु उस युवक को जंगल में एक दूर निर्जन कोने में ले गया और उस छुरे से एक ही आघात में उसकी नाक काट ली और गम्भीर आवाज़ से बोला, 'बेटा, इस सम्प्रदाय में मेरी दीक्षा इसी प्रकार हुई थी और वही आज मैंने तुझे दी है। अवसर पाते ही तू भी दूसरों को इसी दीक्षा का दान देना।' लज्जा के कारण युवक अपनी इस अद्भुत दीक्षा का रहस्य किसी के पास प्रकट नहीं कर सका और वह अपने गुरु के आदेश का पालन पूर्ण रूप से करने लगा। इस प्रकार होते होते देश में नककटे साधुओं का एक पूरा सम्प्रदाय बन गया! तुम्हारी क्या ऐसी इच्छा है कि मैं भी इसी प्रकार के एक सम्प्रदाय की स्थापना करूँ?"

इसके उपरान्त बहुत दिनों बाद इसी विषय पर फिर प्रश्न पूछने पर उन्होंने गम्भीर भाव से उत्तर दिया, "तुम्हारी क्या ऐसी धारणा है कि केवल स्थूल शरीर द्वारा ही दूसरों की सहायता हो सकती है? क्या शरीर के क्रियाशील हुए बिना केवल मन ही दूसरे मनों की सहायता नहीं कर सकता?"

इसी प्रकार एक दूसरे अवसर पर जब उनसे पूछा गया कि ऐसे श्रेष्ठ योगी होते हुए भी वे होमादि क्रिया तथा श्री रघुनाथजी की पूजा आदि कर्म––जो साधना की प्रारम्भिक अवस्था में ही उपदिष्ट हैं–– क्यों करते हैं, तो उन्होंने उत्तर दिया, "तुम यही क्यों समझ लेते हो कि प्रत्येक व्यक्ति अपने निज के कल्याण के लिए ही कर्म किया करता है ? क्या एक मनुष्य दूसरों के लिए कर्म नहीं कर सकता ?"

और उनके बारे में वह चोर वाली कथा भी हम सबने सुनी है:– एक समय एक चोर उनके आश्रम में चोरी करने घुसा, परन्तु इन साधु को देखते ही वह भयभीत हो, चुराए हुए सामान की गठरी वहीं फेंक कर भागा। ये साधु वह गठरी उठाकर उस चोर के पीछे बहुत दूर तक दौड़े और उसके पास जा पहुँचे। उन्होंने वह पोटली उस चोर के पैरों पर रखकर हाथ जोड़कर प्रणाम किया और इस बात के लिए सजल नेत्रों से क्षमा याचना करने लगे कि उसके उस चोरी के कार्य में वे बाधक हुए। फिर बड़ी कातरता के साथ उससे कहने लगे, "तुम यह सब सामान ले लो, क्योंकि यह तुम्हारा ही है, मेरा नहीं।"

हमने विश्वस्त व्यक्तियों से यह कथा भी सुनी है कि एक बार एक काले साँप ने उन्हें काट लिया। उसके बाद उनके मित्रों ने कई घंटों तक यही सोचा कि वे मर गये, पर अन्त में वे होश में आकर उठ बैठे। जब उनके मित्रों ने उनसे इस घटना के सम्बन्ध में पूछा

तो उन्होंने यही कहा, "यह नाग तो हमारे प्रियतम का दूत था।"

और हम इस बात में सहज रूप से विश्वास भी कर सकते हैं, क्योंकि हम जानते हैं, उनका स्वभाव कैसे प्रगाढ़ प्रेम, विनय एवं नम्रता से भूषित था। सब प्रकार के शारीरिक दुःख उनके लिए अपने प्रियतम के पास से आये हुये दूत के समान ही थे और यद्यपि इन दुःखों से कभी कभी इन्हें अत्यन्त पीड़ा भी होती थी तथापि यदि कोई दूसरा व्यक्ति इन दुःखों को किसी दूसरे नाम से सम्बोधित करता था तो इन्हें बहुत असह्य हो जाता था।

उनका यह आडम्बरहीन प्रेम तथा हृदय की सरलता आसपास के सभी लोगों के हृदय पर अपनी छाप डाल चुकी थी और जिन्होंने आसपास के गाँवों में भ्रमण किया है, वे इस अद्भुत महात्मा के अवर्णनीय नीरव प्रभाव की गवाही दे सकते हैं।

अन्तिम दिनों में उन्होंने लोगों से मिलना बंद कर दिया था। जब वे अपनी गुफा के बाहर आते थे, तब लोगों से बातचीत करते थे, पर बीच का दरवाजा बंद रखकर। उनका गुफा से बाहर निकलना या तो उनके ऊपरवाले कमरे में से होम के धुएँ के निकलने से अथवा पूजा के लिए जो तैयारी होती थी उसकी आवाज़ से सूचित होता था।

उनकी एक विशेषता यह थी कि वे जिस समय जो काम हाथ में लेते थे वह चाहे जितना ही तुच्छ क्यों न हो उसमें वे पूर्णतया मग्न हो जाते थे। जिस प्रकार श्री रघुनाथजी की पूजा वे पूर्ण

अन्तःकरण से करते थे, उसी प्रकार एकाग्रता तथा लगन के साथ वे एक तांबे का क्षुद्र बर्तन भी माँजते थे। उन्होंने हमें कर्मरहस्य के सम्बन्ध में यह शिक्षा दी थी कि 'जन साधन तन सिद्धि,' अर्थात् 'ध्येय-प्राप्ति के साधनों एवं उपायों से वैसे ही प्रेम रखना चाहिए तथा उन पर वैसे ही ध्यान देना चाहिए मानो वे स्वयं ही ध्येय हों।' और वे स्वयं इस महान् सत्य के उत्कृष्ट उदाहरण थे।

उनके विनय तथा सरलता में किसी प्रकार का कष्ट, यंत्रणा अथवा आत्मग्लानि न थी। वह पूर्ण रीति से स्वाभाविक थी। एक समय उन्होंने हमारे सम्मुख निम्नलिखित भाव की बड़ी सुन्दर व्याख्या की थी, "हे राजन्, भगवान् तो उन अकिञ्चनों का धन है, जिन्होंने सब वस्तुओं का त्याग कर दिया है—यहाँ तक कि अपनी आत्मा के सम्बन्ध में भी इस भावना का कि 'यह मेरी है' पूर्ण त्याग कर दिया है।" और इस भाव की प्रत्यक्ष उपलब्धि द्वारा ही उनमें यह विनय-भाव सहज रूप से उत्पन्न हुआ था।

वे प्रत्यक्ष रूप से उपदेश नहीं दे सकते थे, क्योंकि ऐसा करना तो मानो आचार्यपद ग्रहण करना हो जाता तथा स्वयं को मानो दूसरों की अपेक्षा उच्चतर आसन पर आरूढ़ कर लेने के सदृश हो जाता। परन्तु जब उनके हृदय का स्रोत खुल जाता था, तब उसमें से अनन्त ज्ञान की धारा निकल पड़ती थी। पर फिर भी उनके उत्तर सीधे न होकर संकेतात्मक ही हुआ करते थे।

देखने में वे अच्छे लम्बे-चौड़े तथा दोहरे शरीर के थे। उनकी

एक ही आँख थी और अपनी वास्तविक उम्र से वे बहुत कम प्रतीत होते थे। उनकी आवाज़ इतनी मधुर थी कि हमने वैसी आवाज़ अभी तक नहीं सुनी। अपने जीवन के शेष दस वर्ष या उससे भी कुछ अधिक समय से, वे लोगों को फिर दिखाई नहीं पड़े। उनके दरवाज़े के पीछे कुछ आलू तथा थोड़ा सा मक्खन रख दिया जाता था और रात को किसी समय जब वे समाधि से उतरते थे तथा अपने ऊपर वाले कमरे में आते थे, तो इन चीज़ों को ले लेते थे। पर जब वे गुफा के भीतर चले जाते थे, तब उन्हें इन चीज़ों की भी आवश्यकता नहीं रहती थी।

इस प्रकार उनका वह नीरव जीवन जिसे हम योगशास्त्र की सत्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण तथा पवित्रता, विनय और प्रेम का ज्वलन्त दृष्टान्त कह सकते हैं, धीरे धीरे व्यतीत होने लगा।

हम पहले ही कह चुके हैं कि बाहर से धुआँ दीख पड़ने से ही मालूम हो जाता था कि वे समाधि से उठे हैं। एक दिन उस धुएँ में जले हुए माँस की दुर्गन्ध आने लगी। आसपास के लोग उसके सम्बन्ध में कुछ अनुमान न कर सके। अन्त में वह दुर्गन्ध असह्य हो उठी और धुआँ भी अत्यधिक मात्रा में ऊपर उठता हुआ दिखाई देने लगा। तब लोगों ने दरवाजा तोड़ डाला और देखा कि उस महायोगी ने स्वयं को पूर्णाहुति के रूप में उस होमाग्नि में प्रदान कर दिया है। थोड़े ही समय में उनका वह पवित्र शरीर भस्म की राशि में परिणत हो गया।

यहाँ पर हमें कालिदास की ये पंक्तियाँ याद आती हैं:—

"अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकम् ।
निन्दन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम् ॥"

—कुमार सम्भव

—अर्थात् मन्दबुद्धि व्यक्ति महात्माओं के कार्यों की निन्दा करते हैं, क्योंकि ये कार्य असाधारण होते हैं तथा उनके कारण भी सर्व-साधारण व्यक्तियों के विचारशक्ति से परे होते हैं।

परन्तु उनके साथ हमारा विशेष परिचय होने के कारण उनके उक्त कार्य के सम्बन्ध में हम एक अनुमान पाठकों के सम्मुख रखने का साहस करते हैं—हम कह सकते हैं कि उन्होंने यह जान लिया था कि उनके जीवन का अन्तिम क्षण समीप आगया है और उनकी मृत्यु के पश्चात् भी किसी को कोई कष्ट न हो इसीलिए उन्होंने पूर्ण स्वस्थ शरीर तथा मन से आर्योचित रीति से यह शेष आहुति भी समर्पण कर दी थी।

वर्तमान लेखक इस परलोकगत महात्मा के प्रति परम ऋणी हैं। इस लेखक ने जिन श्रेष्ठतम आचार्यों से प्रेम किया है तथा जिनकी सेवा की है, उनमें से वे एक हैं। उनकी पवित्र स्मृति में मैं ये पंक्तियाँ, टूटी-फूटी चाहे जैसी भी हों, भक्तिपूर्ण अन्तःकरण से समर्पित करता हूँ।

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१-३. **श्रीरामकृष्णवचनामृत**—तीन भागों में—अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी, 'निराला', प्रथम भाग (द्वितीय संस्करण)—मूल्य ६); द्वितीय भाग—मूल्य ६); तृतीय भाग—मूल्य ७॥)

४-५. **श्रीरामकृष्णलीलामृत**—(विस्तृत जीवनी)—(द्वितीय संस्करण)— दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ५)

६. **विवेकानन्द-चरित**—(विस्तृत जीवनी)—सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, मूल्य ६)

७. **विवेकानन्दजी के संग में**—(वार्तालाप)—शिष्य शरच्चन्द्र, द्वि. सं. मूल्य ५)

८. **परमार्थ-प्रसंग**—स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई)
कपड़े की जिल्द, मूल्य ३।॥)
कार्डबोर्ड की जिल्द, ,, ३।)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

९. **भारत में विवेकानन्द** ५)
१०. **ज्ञानयोग** (प्र. सं.) ३)
११. **पत्रावली** (प्रथम भाग) (प्र. सं.) २=)
१२. **पत्रावली** (द्वितीय भाग) (प्र. सं.) २=)
१३. **धर्मविज्ञान** (प्र. सं.) १॥=)
१४. **कर्मयोग** (द्वि. सं.) १॥=)
१५. **हिन्दू धर्म** (द्वि. सं.) १॥)
१६. **प्रेमयोग** (तृ. सं.) १।=)
१७. **भक्तियोग** (तृ. सं.) १।=)
१८. **आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग** (तृ. सं.) १।)
१९. **परिव्राजक** (च. सं.) १।)
२०. **प्राच्य और पाश्चात्य** (च. सं.) १)
२१. **महापुरुषों की जीवन-गाथायें** (प्र. सं.) १।)
२२. **विवेकानन्दजी की कथायें** (प्र. सं.) १।)
२३. **विवेकानन्दजी से वार्तालाप** (प्र. सं.) १।)
२४. **राजयोग** (प्र. सं.) १=)
२५. **स्वाधीन भारत! जय हो!** (प्र. सं.) १=)
२६. **धर्मरहस्य** (प्र. सं.) १)
२७. **भारतीय नारी** (प्र. सं.) ॥।)
२८. **शिक्षा** (प्र. सं.) ॥=)

२९. **शिकागो वक्तृता** (पं. सं.) ||=)

३०. **हिन्दू धर्म के पक्ष में** (द्वि. सं.) ||=)

३१. **मेरे गुरुदेव** (च. सं.) ||=)

३२. **कवितावली** (प्र. सं.) ||=)

३३. **भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ** (प्र. सं.) ||=)

३४. **श्रीरामकृष्ण-उपदेश** (प्र. सं.) ||=)

३५. **वर्तमान भारत** (तृ. सं.) ||)

३६. **मेरा जीवन तथा ध्येय** (द्वि. सं.) ||)

३७. **मरणोत्तर जीवन** (द्वि. सं.) ||)

३८. **मन की शक्तियाँ तथा जीवन-गठन की साधनायें** (प्र. सं.) ||)

३९. **सरल राजयोग** (प्र. सं.) ||)

४०. **मेरी समर-नीति** (प्र. सं.) |≡)

४१. **ईशदूत ईसा** (प्र. सं.) |=)

४२. **वेदान्त—सिद्धान्त और व्यवहार**—स्वामी शारदानन्द, (प्र. सं.) |=)

मराठी विभाग

१-२. **श्रीरामकृष्ण-चरित्र**—प्रथम भाग (तिसरी आवृत्ति) ३।)
द्वितीय भाग (दुसरी आवृत्ति) ३।)

३. **श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा** (दुसरी आवृत्ति) |||=)

४. **शिकागो-व्याख्यानें**—(दुसरी आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद ||=)

५. **माझे गुरुदेव**—(दुसरी आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद ||=)

६. **हिंदु-धर्माचें नव-जागरण**—स्वामी विवेकानंद ||-)

७. **पवहारी बाबा**—स्वामी विवेकानंद ||)

८. **साधु नागमहाशय चरित्र** (भगवान श्रीरामकृष्णांचे सुप्रसिद्ध शिष्य)— (दुसरी आवृत्ति) २)

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर—१, म. प्र.